तेरहवाँ अध्याय

श्रीमैत्रेय उवाच

भगवन्सम्यगाख्यातं यत्पृष्टोऽसि मया किल । भूसमुद्रादिसरितां संस्थानं ग्रहसंस्थितिः ॥१॥
विष्ण्वाधारं यथा चैतत्त्रैलोक्यं समवस्थितम् । परमार्थस्तु ते प्रोक्तो यथा ज्ञानं प्रधानतः ॥२॥
यत्त्वेतद्भगवानाह भरतस्य महीपतेः । श्रोतुमिच्छामि चरितं तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥३॥
भरतः स महीपालः शालग्रामेऽवसत्किल । योगयुक्तः समाधाय वासुदेवे सदा मनः ॥४॥
पुण्यदेशप्रभावेण ध्यायतश्च सदा हरिम् । कथं तु नाऽभवन्मुक्तिर्यदभूत्स द्विजः पुनः ॥५॥
विप्रत्वे च कृतं तेन यद्भूयः सुमहात्मना । भरतेन मुनिश्रेष्ठ तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥६॥

श्रीपराशर उवाच

शालग्रामे महाभागो भगवन्न्यस्तमानसः । स उवास चिरं कालं मैत्रेय पृथिवीपतिः ॥७॥
अहिंसादिष्वशेषेषु गुणेषु गुणिनां वरः । अवाप परमां काष्ठां मनसश्चापि संयमे ॥८॥
यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव । कृष्ण विष्णो हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥९॥
इति राजाह भरतो हरेर्नामानि केवलम् । नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित्स्वप्नान्तरेऽपि च ।
एतत्पदन्तदर्थं च विना नान्यदचिन्तयत् ॥१०॥
समित्पुष्पकुशादानं चक्रे देवक्रियाकृते । नान्यानि चक्रे कर्माणि निस्सङ्गो योगतापसः ॥११॥
जगाम सोऽभिषेकार्थमेकदा तु महानदीम् । सस्नौ तत्र तदा चक्रे स्नानस्यानन्तरक्रियाः ॥१२॥
अथाजगाम तत्तीरं जलं पातुं पिपासिता । आसन्नप्रसवा ब्रह्मन्नेकैव हरिणी वनात् ॥१३॥

भरतचरित्र

मैत्रेय महर्षि ने कहा— भगवन् ! मैंने जो आप से पूछा था उन पृथिवी, समुद्र तथा नदियों का संस्थान, ग्रहों की स्थिति, जिस तरह से यह त्रैलोक्य भगवान् विष्णु के आधार पर स्थित है, परमार्थ स्वरूप ज्ञान की प्रधानता आदि को आपने बतलाया है ॥१-२॥ भगवन् ! आपने जो पृथिवीपति भरत को बतलाया है, मैं उनका चरित सुनना चाहता हूँ उसे आप मुझे बतलाएँ ॥३॥ वे राजा भरत शालग्राम क्षेत्र में रहते थे । वे योगी तथा अपने मन को सदा भगवान् वासुदेव में लगाये रहते थे ॥४॥ पुण्यदेश के प्रभाव के कारण निरन्तर श्रीहरि का ध्यान करने वाले वे किस कारण से मुक्त नहीं हुए और वे ब्राह्मण वंश में जन्म लिए ॥५॥ ब्राह्मण होकर उन्होंने जो कुछ किया उसे आप मुझे बतलायें ॥६॥ **श्रीपराशर महर्षि ने कहा—** हे मैत्रेय ! वे राजा भरत शालग्राम क्षेत्र में भगवान् में ही अपने मन को लगाये हुए दीर्घ काल तक निवास किये ॥७॥ गुणियों में श्रेष्ठ वे अहिंसा आदि समस्त गुणों में चरमसीमा को प्राप्त कर लिए और उनका मन संयमित था ॥८॥ हे यज्ञेश ! हे अच्युत ! हे गोविन्द ! हे माधव ! हे अनन्त ! हे केशव! हे कृष्ण ! हे विष्णो ! हे हृषीकेश ! हे वासुदेव ! आपको नमस्कार है ॥९॥ इस तरह राजा भरत केवल भगवान् के नामों का ही स्मरण करते रहते थे । इसके अतरिक्त वे स्वप्न में भी कुछ नहीं बोलते थे । इन नामों तथा इन नामों के अर्थों से भिन्न किसी दूसरी बात की वे चिन्ता भी नहीं करते थे ॥१०॥ वे देव-पूजन के लिए समिधा, कुश तथा फूल लाते थे । योगी तपस्वी वे निःसङ्ग रहते थे । किसी दूसरे कर्म को नहीं करते थे ॥११॥ एकबार वे स्नान करने के लिए महानदी में गये । वहाँ स्नान करके वे स्नान के बाद की क्रियाओं को वही करने लगे ॥१२॥

ततः समभवत्तत्र पीतप्राये जले तथा। सिंहस्य नादः सुमहान्सर्वप्राणिभयङ्करः ॥१४॥
ततः सा सहसा त्रासादाप्लुता निम्नगातटम्। अत्युच्चारोहणेनास्या नद्यां गर्भः पपात ह ॥१५॥
तमूह्यमानं वेगेन वीचिमालापरिप्लुतम्। जग्राह स नृपो गर्भात्पतितं मृगपोतकम् ॥१६॥
गर्भप्रच्युतिदोषेण प्रोत्तुङ्गाक्रमणेन च। मैत्रेय सापि हरिणी पपात च ममार च ॥१७॥
हरिणीं तां विलोक्याथ विपन्नां नृपतापसः। मृगपोतं समादाय निजमाश्रममागतः ॥१८॥
चकारानुदिनं चासौ मृगपोतस्य वै नृपः। पोषणं पुष्यमाणश्च स तेन ववृधे मुने ॥१९॥
चचाराश्रमपर्यन्ते तृणानि गहनेषु सः। दूरं गत्वा च शार्दूलत्रासादभ्याययौ पुनः ॥२०॥
प्रातर्गत्वातिदूरं च सायमायात्यथाश्रमम्। पुनश्च भरतस्याभूदाश्रमस्योटजाजिरे ॥२१॥
तस्य तस्मिन्मृगे दूरसमीपपरिवर्तिनि। आसीच्चेतः समासक्तं न ययावन्यतो द्विज ॥२२॥
विमुक्तराज्यतनयः प्रोज्झिताशेषबान्धवः। ममत्वं स चकारोच्चैस्तस्मिन्हरिणबालके ॥२३॥
किं वृकैर्भक्षितो व्याघ्रैः किं सिंहेन निपातितः। चिरायमाणे निष्क्रान्ते तस्यासीदिति मानसम् ॥२४॥
एषा वसुमती तस्य खुराग्रक्षतकर्बुरा। प्रीतये मम जातोऽसौ क्व ममैणकबालकः ॥२५॥
विषाणाग्रेण मद्बाहुं कण्डूयनपरो हि सः। क्षेमेणाभ्यागतोऽरण्यादपि मां सुखयिष्यति ॥२६॥
एते लूनशिखास्तस्य दशनैरचिरोद्गतैः। कुशाः काशा विराजन्ते बटवः सामगा इव ॥२७॥
इत्थं चिरगते तस्मिन्स चक्रे मानसं मुनिः। प्रीतिप्रसन्नवदनः पार्श्वस्थे चाभवन्मृगे ॥२८॥
समाधिभङ्गस्तस्यासीत्तन्मयत्वादृतात्मनः। सन्त्यक्तराज्यभोगर्द्धिस्वजनस्यापि भूपतेः ॥२९॥

हे ब्रह्मन् ! वहाँ पर वन से प्यासी हुयी आसन्नप्रसवा एक हरिणी जल पीने के लिए आयी, वह अकेली थी ॥१३॥ जब वह जल पी चुकी थी उसी समय सभी प्राणियों के लिए भयङ्कर सिंह का शब्द सुनायी पड़ा ॥१४॥ उसके पश्चात् वह भयभीत होकर नदी के तट पर कूद गयी। अत्यन्त ऊँचे चढ़ने के कारण उसका गर्भ नदी में गिर गया ॥१५॥ नदी के प्रवाह में वेग से बहते हुए तथा गर्भ से गिरे हुए मृगशावक को उन्होंने पकड़ लिया ॥१६॥ गर्भ के पतन रूपी दोष के कारण और अधिक ऊँचे चढ़ने के कारण वह हरिणी भी गिर कर मर गयी ॥१७॥ हरिणी को मरी हुयी देखकर तपस्वी राजा उस मृगशावक को अपने आश्रम पर लाये ॥१८॥ वे राजा उस मृग की प्रतिदिन सेवा करते थे। उनके द्वारा पोषित वह मृग बड़ा हो गया ॥१९॥ वह आश्रम के सन्निकट ही घासों को चरता था और कभी वन में चला जाता था। दूर जाकर व्याघ्र के भय से पुनः आश्रम में चला आता था ॥२०॥ प्रातःकाल अत्यन्त दूर जाकर सायंकाल आश्रम में आता था और भरतजी के आश्रम की पर्णशाला के आंगन में सो जाता था ॥२१॥ हे द्विज ! इस प्रकार कभी निकट तथा कभी दूर घूमने वाले उस मृग में ही भरतजी का मन लगा रहता था; उससे भिन्न वे कुछ दूसरा सोचते भी नहीं थे ॥२२॥ जो राजा भरत राज्य, पुत्र तथा संसार के समस्त बन्धनों का परित्याग कर दिये थे, उनका उस मृगशावक में अत्यधिक अनुराग हो गया ॥२३॥ जब वह देर तक आश्रम में नहीं आता था तो वे सोचने लगते थे कि भेड़ियों ने उसे खा लिया क्या ? अथवा किसी सिंह ने उसे मार दिया ॥२४॥ यह पृथिवी उसके खुरों से चित्रित हो गयी है। मेरी ही प्रसन्नता के लिए उत्पन्न वह मृग शावक न जाने कहाँ है ॥२५॥ क्या वह वन से कुशलपूर्वक लौटकर अपने शृङ्गों से मेरी भुजाओं को खुजलाकर मुझे आनन्दित करेगा ?॥२६॥ जिनके ऊपर के भाग उसके द्वारा चर लिए गये हैं अभी नये-नये उत्पन्न कुश और काश सामगान करने वाले बटुओं के सामन सुशोभित हो रहे हैं ॥२७॥ देर तक उस मृग के बाहर रह जाने पर भरतजी इसी प्रकार सोचने लगते थे और सन्निकट में आये

चपलं चपले तस्मिन्दूरगं दूरगामिनि। मृगपोतेभवच्चित्तं स्थैर्यवत्तस्य भूपतेः ॥३०॥
कालेन गच्छता सोऽथ कालं चक्रे महीपतिः। पितेव सास्त्रं पुत्रेण मृगपोतेन वीक्षितः ॥३१॥
मृगमेव तदाद्राक्षीत्त्यजन्प्राणानसावपि। तन्मयत्वेन मैत्रेय नान्यत्किञ्चिदचिन्तयत्॥३२॥
ततश्च तत्कालकृतां भावनां प्राप्य तादृशीम्। जम्बूमार्गे महारण्ये जातो जातिस्मरो मृगः॥३३॥
जातिस्मरत्वादुद्विग्नः संसारस्य द्विजोत्तम। विहाय मातरं भूयः शालग्राममुपाययौ ॥३४॥
शूष्कैस्तृणैस्तथा पर्णैः स कुर्वन्नात्मपोषणम्। मृगत्वहेतुभूतस्य कर्मणो निष्कृतिं ययौ ॥३५॥
तत्र चोत्सृष्टदेहोऽसौ जज्ञे जातिस्मरो द्विजः। सदाचारवतां शुद्धे योगिनां प्रवरे कुले ॥३६॥
सर्वविज्ञानसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्। अपश्यत्स च मैत्रेय आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥३७॥
आत्मनोऽधिगतज्ञानो देवादीनि महामुने। सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श तदात्मनः ॥३८॥
न पपाठ गुरुप्रोक्तं कृतोपनयनः श्रुतिम्। न ददर्श च कर्माणि शास्त्राणि जगृहे न च ॥३९॥
उक्तोऽपि बहुशः किञ्चिज्जडवाक्यमभाषत। तदप्यसंस्कारगुणं ग्राम्यवाक्योक्तिसंश्रितम्॥४०॥
अपध्वस्तवपुः सोऽपि मलिनाम्बरधृग्द्विजः। क्लिन्नदन्तान्तरः सर्वैः परिभूतः स नागरैः ॥४१॥
सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः। जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥४२॥
तस्माच्चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्। जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥४३॥

हुए उसे देखकर वे प्रसन्न हो जाते थे ॥२८॥ उस मृग में ही मन के लगे रहने के कारण राज्यभोग, समृद्धि तथा स्वजनों का भी परित्याग करने वाले भरतजी की समाधि भङ्ग हो गयी ॥२९॥ राजा भरत का स्थिर चित्त उस मृग के चंचल होने पर चञ्चल हो जाता था, उसके दूर चले जाने पर दूरगामी हो जाता था ॥३०॥ कुछ समय बीत जाने पर राजा भरत काल कवलित हो गये, उस समय वह मृगशावक उनको वैसे ही देख रहा था जिस तरह मरते हुए पिता के पुत्र आँसू भरे नेत्रों से देखता है ॥३१॥ राजा भी उस मृग को ही देखते हुए अपने प्राणों का परित्याग किए; हे मैत्रेय ! उस मृग में ही मन के लगे रहने के कारण वे दूसरा कुछ सोच नहीं सके ॥३२॥ उसके कारण अपनी मृगमयी भावना के कारण वे राजा भरत जम्बूमार्ग (कालञ्जर पर्वत) के वन में पूर्वजन्म की स्मृति से युक्त मृग शरीर को प्राप्त किए ॥३४॥ हे द्विजोत्तम ! जातिस्मर होने के कारण संसार से उद्विग्न होकर वह मृग अपनी माता का परित्याग करके शालग्राम क्षेत्र में चला गया ॥३४॥ वहाँ पर वह सूखे तृणों तथा पत्तों को खाकर आत्मपोषण करता था उससे, वह मृगत्व प्राप्ति के कारणभूत कर्मों का प्रायश्चित कर लिया ॥३५॥ उसके बाद उस मृग शरीर का परित्याग करके भरतजी सदाचारी योगियों के शुद्धवंश में जातिरमर ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए ॥३६॥ हे मैत्रेय ! वे सभी प्रकार के विज्ञानों से सम्पन्न थे समस्त शास्त्रों के अर्थों के वेता थे, अपनी आत्मा को प्रकृति से पृथक् देखते थे॥३७॥ हे महामुने ! आत्मज्ञान सम्पन्न वे देवता आदि सभी भूतों को अपने से अभिन्न रूप से देखते थे ॥३८॥ यज्ञोपवित संस्कार हो जाने पर गुरु के द्वारा पढ़ाये जाने पर भी वेदाध्ययन नहीं किए। वे न तो किसी कर्म पर ध्यान देते थे और न शास्त्रों को पढ़ते थे ॥३९॥ जब कोई बहुत पूछता था तो वे ग्रामीणों के समान संस्कार रहित वाक्यों को जड़ के समान बोल देते थे ॥४०॥ उनके मलिन शरीर, मैले वस्त्र, अपरिमार्जित दाँतों के कारण नगर निवासी उनका अपमान करने लगे ॥४१॥ चूकि सम्मान योग की समृद्धि में बहुत अधिक हानिकारक होता है, लोगों के द्वारा अपमानित होने वाला योगी योग की सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥४२॥ इसलिए योगी को सज्जनों के धर्म को दूषित नहीं करते हुए ऐसा आचरण करना चाहिए कि लोग उसका अपमान करते रहें और उसकी किसी में आसक्ति न हो

हिरण्यगर्भवचनं विचिन्त्येत्थं महामतिः। आत्मानं दर्शयामास जडोन्मत्ताकृतिं जने॥४४॥
भुंक्ते कुल्माषव्रीह्यादिशाकं वन्यं फलं कणान्। यद्यदाप्नोति सुबहु तदत्ते कालसंयमम्॥४५॥
पितर्युपरते सोऽथ भ्रातृभ्रातृव्यबान्धवैः। कारितः क्षेत्रकर्मादि कदन्नाहारपोषितः॥४६॥
सतूक्षपीनावयवो जडकारी च कर्मणि। सर्वलोकोपकरणं बभूवाहारवेतनः॥४७॥
तं तादृशमसंस्कारं विप्राकृतिविचेष्टितम्। क्षत्ता पृषतराजस्य काल्यै पशुमकल्पयत्॥४८॥
रात्रौ तं समलङ्कृत्य वैशसस्य विधानतः। अधिष्ठितं महाकाली ज्ञात्वा योगेश्वरं तथा॥४९॥
ततः खड्गं समादाय निशितं निशि सा तथा। क्षत्तारं क्रूरकर्माणमच्छिनत्कण्ठमूलतः।
स्वपार्षदयुता देवी पपौ रुधिरमुल्बणम् ॥५०॥
ततस्सौवीरराजस्य प्रयातस्य महात्मनः। विष्टिकर्ताथ मन्येत विष्टियोग्योऽयमित्यपि॥५१॥
तं तादृशं महात्मानं भस्मच्छन्नमिवानलम्। क्षत्ता सौवीरराजस्य विष्टियोग्यममन्यत॥५२॥
स राजा शिबिकारूढो गन्तुं कृतमतिर्द्विज। बभूवेक्षुमतीतीरे कपिलर्षेर्वराश्रमम्॥५३॥
श्रेयः किमत्र संसारे दुःखप्राये नृणामिति। प्रष्टुं तं मोक्षधर्मज्ञं कपिलाख्यं महामुनिम्॥५४॥
उवाह शिबिकां तस्य क्षत्तुर्वचनचोदितः। नृणां विष्टिगृहीतानामन्येषां सोऽपि मध्यगः॥५५॥
गृहीतो विष्टिना विप्रः सर्वज्ञानैकभाजनः। जातिस्मरोऽसौ पापस्य क्षयकाम उवाह ताम्॥५६॥
ययौ जडमतिः सोऽथ युगमात्रावलोकनम्। कुर्वन्मतिमतां श्रेष्ठस्तदन्ये त्वरितं ययुः॥५७॥
विलोक्य नृपतिः सोऽथ विषमां शिबिकागतिम्। किमेतदित्याह समं गम्यतां शिबिकावहाः॥५८॥

सके ॥४३॥ हिरण्यगर्भ के इस सार युक्त वाक्य का स्मरण करके वे लोगों के बीच में अपने को जड़ एवं उन्मत्त के ही समान प्रदर्शित करते थे ॥४४॥ कुलमाष (कुलथी) ब्रीहि, शाक, वनैले फल, कण आदि जो कुछ भी थोड़ा भी मिल जाता था। उसे ही बहुत मानकर खा लेते थे और अपना समय बिताते थे ॥४५॥ पिता के मर जाने पर उनके भाई बान्धव आदि उनसे खेतों में कामों को करवाते थे और कदन्न के द्वारा उनका पोषण करते थे ॥४६॥ वे बैल के समान मोटे शरीर वाले थे, जड के समान कामों को करते थे, केवल भोजन पर ही सबों का काम कर देते थे॥४७॥ उस तरह से संस्कारहीन ब्राह्मण के समान आकार वाले उनको देखकर पृषतराज के सेवकों ने एक रात को उन्हें सजा कर काली का बलिपशु बनाया। किन्तु काली ने इस महायोगीश्वर को जानकर अपने हाथ में तीक्ष्ण खड्ग ले लिया और उन क्रूर कर्म करने वाले राज सेवकों का गला काट दिया, और अपने गणों के साथ उन सबों का तीक्ष्ण रक्तपान किया ॥४८-५०॥ उसके बाद सौबीर राजा कहीं जा रहे थे। वे उन्हें उस प्रकार से देखकर उनको भी बेगार कर्म करने योग्य समझे ॥५१॥ उनके सेवक ने भी भस्म में छिपे हुए अग्नि के समान महात्मा ज़डभरतजी को उसी प्रकार का समझा ॥५२॥ वे राजा (सौबीराज) इक्षुमति नदी के किनारे रहने वाले मोक्ष धर्म के ज्ञाता महर्षि कपिल के आश्रम में यह पूछने के लिए जाना चाहते थे कि इस दुःख बहुल संसार में क्या करना चाहिए ? वे पालकी पर चढ़कर जाने का निश्चय किए ॥५३-५४॥ राजसेवक के कहने से (जड भरतजी भी) दूसरे बेगारियों के बीच में शिविका ढोने के काम में लग गये ॥५५॥ समस्त ज्ञानों के एकमात्र पात्र वेगार कर्म में लगाये गये वे ब्राह्मण जाति स्मर थे। वे अपने प्रारब्ध कर्म का क्षम करना चाहते थे। वे शिविका उठाकर चल दिए ॥५६॥ ज्ञानियों में श्रेष्ठ वे जडमति के समान आचरण करने वाले ब्राह्मण चार हाथ आगे की भूमि को देखकर मन्दगति से चलते थे। और उनसे भिन्न बेगारिये तेज चलते थे ॥५७॥ शिविका की विषम गति को देखकर राजा ने बेगारियों से कहा, यह क्या

पुनस्तथैव शिबिकां विलोक्य विषमां हि सः। नृपः कितेतदित्याह भवद्भिर्गम्यतेऽन्यथा ॥५९॥
भूपतेर्वदतस्तस्य श्रुत्वेत्थं बहुशो वचः। शिबिकावाहकाः प्रोचुरयं यातीत्यसत्वरम् ॥६०॥

राजोवाच

किं श्रान्तोऽस्यल्पमध्वानं त्वयोढा शिबिका मम। किमायाससहो न त्वं पीवानसि निरीक्ष्यसे ॥६१॥

ब्राह्मण उवाच

नाहं पीवान्न चैवोढा शिबिका भवतो मया। न श्रान्तोऽस्मि न चायासो सोढव्योऽस्ति महीपते ॥६२॥

राजोवाच

प्रत्यक्षं दृश्यसे पीवानद्यापि शिबिका त्वयि। श्रमश्च भारोद्वहने भवत्येव हि देहिनाम् ॥६३॥

ब्राह्मण उवाच

प्रत्यक्षं भवता भूप यद्दृष्टं मम तद्वद। बलवानबलश्चेति वाच्यं पश्चाद्विशेषणम् ॥६४॥
त्वयोढा शिबिका चेति त्वय्यद्यापि च संस्थिता। मिथ्यैतदत्र तु भवाञ्छृणोतु वचनं मम ॥६५॥
भूमौ पादयुगं त्वास्ते जंघे पादद्वये स्थिते। ऊर्वोर्जंघाद्वयावस्थौ तदाधारं तथोदरम् ॥६६॥
वक्षः स्थलं तथा बाहू स्कन्धौ चोदरसंस्थितौ। स्कन्धाश्रितेयं शिबिका मम भारोऽत्र किं कृतः ॥६७॥
शिबिकायां स्थितं चेदं वपुस्त्वदुपलक्षितम्। तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चेदमन्यथा ॥६८॥
अहं त्वं च तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव। गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥६९॥
कर्मवश्या गुणाश्चैते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते। अविद्यासञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥७०॥
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः। प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु ॥७१॥

कर रहे हो ? तुमलोग ठीक से पालकी ले चलो ॥५८॥ किन्तु फिर भी शिविका की वही विषम गति को देखकर राजा ने कहा यह क्या है ? तुमलोग ऐसे असमान रूप से कैसे चलते हो ?॥५९॥ राजा की इस तरह बार-बार वाणी सुनकर बेगारियों ने कहा महाराज ! हमलोगों में से यह ही धीरे चलता है ॥६०॥ **राजा ने कहा—** तुमने मेरी पालकी को थोड़े ही दूर ढोया है, और इतने में ही तुम थक गये ? देखने में तो मोटे लगते हो भार बर्दास्त नहीं होता है ॥६१॥ **ब्राह्मण ने कहा—** राजन् ! न तो मैं मोटा हूँ, न तो मैं तुम्हारी शिविका ढोने वाला हूँ, न मैं थका हूँ और न तो मुझे श्रम सहने की आवश्यकता है ॥६२॥ **राजा ने कहा—** अरे ! तुम प्रत्यक्षतः मोटा दिखते हो; अभी भी मेरी शिविका तुम्हारे कन्धे पर है । भार को ढोने से देह धारियों को श्रम होता ही है ॥६३॥ **ब्राह्मण ने कहा—** राजन् ! तुमने प्रत्यक्षतः जो देखा है, उसे तुम मुझको बतलाओ, बलवान् तथा निर्बल इन विशेषणों को बाद में बतलाना ॥६४॥ तुम्हारा यह कहना बिल्कुल मिथ्या है कि तुमने मेरी शिविका को ढोया और इस समय भी वह तुम्हारे कन्धे पर है । अब तुम मेरी बात सुनो ॥६५॥ ये दोनों पैर तो पृथिवी पर हैं, दोनों जङ्घे दोनों पैरों पर हैं, जङ्घाओं के ऊपर ऊरू है, उसके ऊपर पेट हैं ॥६६॥ वक्षःस्थल (छाती) दोनों भुजाएँ, दोनों कन्धे ये सबके सब पेट के ऊपर हैं । यह शिविका भी कन्धे पर है इस में मेरे ऊपर कौन सा भार है ?॥६७॥ शिविका के ऊपर तुम्हारे द्वारा उपलक्षित तुम्हारा शरीर है, अतएव मैं यहाँ (पृथिवी पर) हूँ और तुम शिविका में हो; यह कहना मिथ्या है॥६८॥ राजन् ! मैं तुम और दूसरे लोग तो भूतों के द्वारा ढोये जा रहे हैं; यह पञ्चमहाभूत वर्ग भी गुणों के प्रवाह में पड़कर प्रवाहित हो रहा है ॥६९॥ हे पृथिवीपते ! ये सत्त्व आदि गुण भी कर्म के अधीन हैं; और समस्त जीवों में विद्यमान कर्म अविद्या (अज्ञान) कृत है ॥७०॥ आत्मा तो शुद्ध, अक्षर, शान्त (षडूर्मियों से रहित) प्राकृतिक गुणों

यदा नोपचयस्तस्य न चैवापचयो नृप। तदा पीवानसीतीत्थं कया युक्त्वा त्वयेरितम्॥७२॥
भूपादजंघाकट्यूरुजठरादिषु संस्थिते। शिबिकेयं यथा स्कन्धे तथा भारः समस्त्वया॥७३॥
तथान्यैर्जन्तुभिर्भूप शिबिकोढा न केवलम्। शैलद्रुमगृहोत्थोऽपि पृथिवी सम्भवोऽपि वा॥७४॥
यदा पुंसः पृथग्भावः प्राकृतैः कारणैर्नृप। सोढव्यस्तु तदायासः कथं वा नृपते मया॥७५॥
यद्द्रव्या शिबिका चेयं तद्द्रव्यो भूतसंग्रहः। भवतो मेऽखिलस्यास्य ममत्वेनोपबृंहितः॥७६॥

श्रीपराशर उवाच

एवमुक्त्वाभवन्मौनी स वहञ्छिबिकां द्विज। सोऽपि राजावतीर्योर्व्यां तत्पादौ जगृहे त्वरन्॥७७॥

राजोवाच

भो भो विसृज्य शिबिकां प्रसादं कुरु मे द्विज। कथ्यतां को भवानत्र जाल्मरूपधरः स्थितः॥७८॥
यो भवान्यन्निमित्तं वा यदागमनकारणम्। तत्सर्वं कथ्यतां विद्वन्मह्यं शुश्रूषवे त्वया॥७९॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां सोऽहमित्येतद्वक्तुं भूप न शक्यते। उपभोगनिमित्तं च सर्वत्रागमनक्रिया॥८०॥
सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देहाद्युपपादकौ। धर्माधर्मोद्भवौ भोक्तुं जन्तुर्देहादिमृच्छति॥८१॥
सर्वस्यैव हि भूपाल जन्तोः सर्वत्र कारणम्। धर्माधर्मौ यतः कस्मात्कारणं पृच्छ्यते त्वया॥८२॥

राजोवाच

धर्माधर्मौ न सन्देहास्सर्वकार्येषु कारणम्। उपभोगनिमित्तं च देहाद्देहान्तरागमः॥८३॥

से रहित और प्रकृति से परे (भिन्न) है। यह वृद्धि एवं ह्रास से रहित है। वह सभी जन्तुओं में अकेला व्यापक (सर्वात्मा) है ॥७१॥ जब यह बढ़ता नहीं है तो फिर इसका ह्रास भी नहीं होता है। ऐसी स्थिति में आपने यह कैसे कहा कि तुम मोटे हो ?॥७२॥ पृथिवी, पैर, जङ्घे, कमर, ऊरू तथा पेट आदि के ऊपर विद्यमान यह शिविका यदि मेरे लिए भार है तो यह तेरे लिए भी भार हो सकती है ॥७३॥ राजन् ! इस तरह से तो अन्य भी जीव केवल शिविका ही नही अपितु पर्वत, वृक्ष, गृह इत्यादि समस्त पृथिवी आदि का भी भार उठा रखे हैं ॥७४॥ जब जीव; प्राकृत कारणों से भिन्न है तो राजन् सहने योग्य आयास मुझको कैसे हो सकता है ?॥७५॥ यह शिविका जिन द्रव्यों से बनी है, उसीसे आपका मेरा तथा सम्पूर्ण लोगों का शरीर बना है। उसी में सबका ममत्व बढ़ा हुआ है ॥७६॥ **श्रीपराशर महर्षि ने कहा—** हे द्विज ! इस तरह से शिविका का वहन करते हुए वे चुप हो गये और राजा भी शीघ्र शिविका से उतर कर उनका पैर पकड़ लिए ॥७७॥ **राजा ने कहा—** हे द्विज ! इस शिविका को छोड़कर आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये। आप बतलाये कि आप यह जड वेष धारण किए हुए कौन हैं ॥७८॥ हे द्विज ! आप जो हैं, जिस निमित्त आप यहाँ आये हैं, उन सबों को मुझे बतलाइये मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥७९॥ **ब्राह्मण ने कहा—** राजन् ! मैं यह हूँ इस बात को नहीं कहा जा सकता है, और जीवों के आने की क्रिया तो कर्मों का फल भोगने के लिए हुआ करती है ॥८०॥ जीव सुख-दुःखों को भोगने के लिए ही शरीर को धारण करता है। देहादि की प्राप्ति का कारण सुख दुःख का भोग ही है। ये सुख और दुःख पाप तथा पुण्य रूपी कर्मों से उद्भूत होते हैं ॥८१॥ राजन्! जीवों की समस्त क्रियाओं के कारण धर्म एवं अधर्म ही होते हैं, अतएव तुम विशेष रूप में आने का कारण क्यों पूछते हो?॥८२॥ **राजा ने कहा—** इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सभी कार्यों का कारण धर्म एवं अधर्म होते हैं, और उनका फल भोगने के ही लिए देह तथा देहान्तर की प्राप्ति होती है ॥८३॥ किन्तु आपने यह जो कहा कि मैं अमुक

यत्त्वेतद्भवता प्रोक्तं सोऽहमित्येतदात्मनः। वक्तुं न शक्यते श्रोतुं तन्ममेच्छा प्रवर्तते ॥८४॥
योऽस्ति सोऽहमिति ब्रह्मन्कथं वक्तुं न शक्यते। आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहमिति यो द्विज ॥८५॥

ब्राह्मण उवाच

शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत्। अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः ॥८६॥
जिह्वा ब्रवीत्यहमिति दन्तोष्ठौ तालुके नृप। एते नाहं यतः सर्वे वाङ्निष्पादनहेतवः ॥८७॥
किं हेतुभिर्वदत्येषा वागेवाहमिति स्वयम्। अतः पीवानसीत्येतद्वक्तुमित्थं न युज्यते ॥८८॥
पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरः पाण्यादिलक्षणः। ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन्करोम्यहम् ॥८९॥
यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम। तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥९०॥
यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः। तदा हि को भवान्सोऽहमित्येतद्विफलं वचः ॥९१॥
त्वं राजा शिबिका चेयमिमे वाहाः पुरः सराः। अयं च भवतो लोको न सदेतन्नृपोच्यते ॥९२॥
वृक्षाद्दारु ततश्चेयं शिबिका त्वदधिष्ठिता। किं वृक्षसंज्ञा वास्याः स्याद्दारुसंज्ञाथ वा नृप ॥९३॥
वृक्षारूढो महाराजो नायं वदति ते जनः। न च दारुणि सर्वस्त्वां ब्रवीति शिबिकागतम् ॥९४॥
शिबिका दारुसंघातो रचनास्थितिसंस्थितः। अन्विष्यतां नृपश्रेष्ठ तद्भेदे शिबिका त्वया ॥९५॥
एवं छत्रशलाकानां पृथग्भावे विमृश्यताम्। क्व यातं छत्रमित्येष न्यायस्त्वयि तथा मयि ॥९६॥
पुमान् स्त्री गौरजो वाजी कुञ्जरो विहगस्तरुः। देहेषु लोकसंज्ञेयं विज्ञेया कर्महेतुषु ॥९७॥
पुमान्न देवो न नरो न पशुर्न च पादपः। शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनयः ॥९८॥

हूँ इस बात को नहीं कहा जा सकता है, तो इसी बात को सुनने की मेरी इच्छा है ॥८४॥ हे ब्रह्मन् ! आत्मा जो है, उसे मैं अमुक हूँ यह क्यों नहीं कहा जा सकता है ? हे द्विज ! आत्मा का मैं इस शब्द से व्यवहार करना दोषावह नहीं है ॥८५॥ **ब्राह्मण ने कहा—** राजन् ! तुमने जो यह कहा है कि आत्मा के लिए अहम् शब्द का प्रयोग दोषा वह नहीं है, किन्तु अनात्मा देवतादि शरीर के लिए अहम् शब्द का प्रयोग तो दोषावह है ही ॥८६॥ राजन् ! अहम् शब्द के उच्चारण स्थान जिह्वा, ओष्ठ तथा तालु आदि हैं, किन्तु ये अहं शब्द वाच्य नहीं अपितु ये वाणी की निष्पत्ति के कारण हैं ॥८७॥ क्या यह जिह्वा इन हेतुओं से अपने को ही अहम् शब्द से अभिहित करती है । यदि नहीं तो फिर तुम बलवान् हो यह भी कहना उचित नहीं है ॥८८॥ चूकि, शिर, हाथ आदि से युक्त शरीर पुरुष (शरीर) से भिन्न है । ऐसी स्थिति में राजन् मैं किसको अहम् शब्द से कहूँ ॥८९॥ राजन् ! यदि मुझसे कोई भिन्न होता तो फिर उस स्थिति में यह मैं हूँ और यह कोई दूसरा है, इस तरह से कहा जा सकता था ॥९०॥ जब समस्त शरीर में एक आत्मा है तो फिर आप कौन है ? यह मैं हूँ इस तरह की बातें व्यर्थ ही हैं ॥९१॥ तुम राजा हो, यह शिविका है, ये तुम्हारे सामने शिविकावाहक हैं, यह तुम्हारी प्रजा है ये सब बातें सत्य नहीं है ॥९२॥ वृक्ष से लकड़ी होती है, लकड़ी से यह तुम्हारे द्वारा अधिष्ठित शिविका बनी है । राजन् बतलाओ इसकी वृक्ष संज्ञा हो सकती है अथवा दारु संज्ञा॥९३॥ तुम्हारे ये लोग यह नहीं कहते हैं कि महाराज वृक्ष पर बैठे हैं और न तो तुम्हें लकड़ी में कहते हैं, अपितु तुम्हें शिविकारूढ कहते हैं ॥९४॥ राजन् ! यह तो रचना विशेष से बनी हुयी लकड़ियों का समूह ही है अन्यथा लकड़ी अलग करके इसे खोजकर बतलाओ ॥९५॥ इसीतरह शलाकाओं को अलग करके खोजकर बताओ कि छत्र कहाँ चला गया । यही स्थिति हमारी और तुम्हारी भी है ॥९६॥ इसी तरह पुरुष, स्त्री, गौ, अज (बकरी) घोड़ा, हाथी, पक्षी, वृक्ष ये सभी नाम कर्मजन्य शरीरों के हैं ॥९७॥ राजन् ! यह आत्मा न तो पुरुष है, न देवता है, न मनुष्य है,

वस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजभटात्मकम्। तथान्यच्च नृपेत्थं तन्न सत्सङ्कल्पमनामयम्॥९९॥
यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै। परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्॥१००॥
त्वं राजा सर्वलोकस्य पितुः पुत्रो रिपो रिपुः। पत्न्याः पतिः पिता सूनोः किं त्वां भूप वदाम्यहम्॥१०१॥
त्वं किमेतच्छिरः किं नु ग्रीवा तथा तथोदरम्। किमु पादादिकं त्वं वा तवैतत्किं महीपते॥१०२॥
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूयव्यवस्थितः। कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव॥१०३॥
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे मयाहमिति भाषितुम्। पृथक्करणनिष्पाद्यं शक्यते नृपते कथम्॥१०४॥

इति श्रीविष्णुमहापुराणे द्वितीयेंऽशे त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

चौदहवाँ अध्याय

श्रीपराशर उवाच

निशम्य तस्येति वचः परमार्थसमन्वितम्। प्रश्रयावनतो भूत्वा तमाह नृपतिर्द्विजम्॥१॥

राजोवाच

भगवन्यत्त्वया प्रोक्तं परमार्थमयं वचः। श्रुते तस्मिन्भ्रमन्तीव मनसो मम वृत्तयः॥२॥
एतद्विवेकविज्ञानं यदशेषेषु जन्तुषु। भवता दर्शितं विप्र तत्परं प्रकृतेर्महत्॥३॥
नाहं वहामि शिबिकां शिबिका न मयि स्थिता। शरीरमन्यदस्मत्तो येनेयं शिबिका धृता॥४॥

न पशु है, न वृक्ष है, ये सब तो कर्मजन्य विभिन्न शरीरों के नाम हैं॥९८॥ राजन्! संसार में जो धन, राजा, राजा के सैनिक तथा अन्य दूसरी वस्तुएँ ये सभी कल्पनामय है सत्य नहीं हैं॥९९॥ जिसका परिणाम आदि के कारण कालान्तर में भी नाम नहीं बदलता है, राजन् ऐसी कौन सी वस्तु है?॥१००॥ राजन्! तुम सारी प्रजाओं के राजा हो, किसी के पिता हो, किसी के पुत्र हो, अपने शत्रु के लिए शत्रु हो, अपनी पत्नी के पति हो, पुत्र के पिता हो, बतलाओ इनमें से किस नाम से तुम्हें अभिहित करूँ॥१०१॥ तुम क्या यह शिर हो? या गला हो? या उदर हो? अथवा तुम पैर इत्यादि हो? अथवा ये सब शिर आदि तुम्हारे हैं क्या?॥१०२॥ तुम इन सभी अङ्गों से पृथक् हो, अतएव सावधानी पूर्वक विचार करो कि तुम कौन हो?॥१०३॥ तत्त्वों की इस तरह से व्यवस्था होने पर, आत्मा का निर्देश इन सबों से पृथक् करके ही किया जा सकता है, ऐसी स्थिति में उसे अहम् (मैं) शब्द से कैसे कहा जा सकता है?॥१०४॥

इसतरह श्रीविष्णुमहापुराण के दूसरे अंश के तेरहवें अध्याय का शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य) कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ॥१३॥

जडभरत और सौवीर नरेश का संवाद

श्रीपराशर महर्षि ने कहा— इस तरह की परमार्थ युक्त बातें सुनकर राजा ने उस ब्राह्मण से विनयावनत होकर कहा॥१॥ **राजा ने कहा—** भगवन्! आपने परमार्थ युक्त वचन कहा है, उन बातों को सुनकर मेरे मन की वृत्तियाँ भ्रान्त सी हो रही हैं॥२॥ आपने सम्पूर्ण जीवों के विषय में विवेक विज्ञान् को दर्शाया है, वह प्रकृति से भी महान् परंतत्त्व है॥३॥ मैं शिविका का वहन नहीं करता हूँ, और न तो शिविका मेरे कन्धे पर है, इस शिविका को